

काव्याञ्जलि

उपाध्याय अमर मुनि

वीरायतन - राजगृह

काव्याञ्जलि

उपाध्याय अमर मुनि

वीरायतन - राजगृह

पुस्तक :

काव्याञ्जलि

रचयिता :

उपाध्याय अमरमुनि

आवृत्ति : द्वितीय

पार्श्व जयन्ती

२२ दिसम्बर १९८६

प्रकाशक :

वीरायतन

राजगृह-८०३११६

(नालन्दा-बिहार)

मूल्य : रु. २.५०

मुद्रक :

वीरायतन मुद्रणालय

राजगीर

प्रकाशकीय

प्रज्ञामहर्षि उपाध्याय अमरमुनिजी कवि, विचारक, दार्शनिक लेखक एवं प्रवक्ता हैं। कवि एवं चिन्तक तो वे स्वभाव से ही हैं। साहित्यिक क्षेत्र में सर्व प्रथम उनका चिन्तन एवं अनुभव काव्य-कविता के रूप में सामने आया। वस्तुतः काव्य—कविता, कवि हृदय की उर्वर - भूमि का प्रतिफल है। कवि का हृदय इतना सरल, सुकोमल एवं संवेदनशील होता है, कि मानव - जगत् की प्रत्येक घड़कन को अपनी भावना - रागिनी में संजोकर मानव जगत् के समक्ष प्रस्तुत करता है। कवि की भावनाएँ मानवीय धरातल पर उतर कर विश्व की सुख - दुःख, हर्ष - शोक, संयोग - वियोग, प्रसन्नता - खिन्नता आदि जितनी भावनाएँ हैं, सब को धूप - छाया रूप में छिटकती हुई शब्द स्वरूप प्राप्त करती हैं। श्रद्धेय उपाध्यायश्रीजी 'काव्याञ्जलि' में जीवन का यथार्थ चित्रण करके युग के अनुरूप मानव को जीवन की सही राह दिखा रहे हैं।

कविश्रीजी के काव्य में कवि हृदय की विशालता, संवेदनशीलता तो है ही, प्रत्युत उनके दार्शनिक, आध्यात्मिक, तात्विक धार्मिक, साहित्यिक एवं समीक्षात्मक लेखों में भी उनके कवि-हृदय के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

कविश्रीजी के साहित्य जीवन का प्रारम्भ कविता, गीत एवं भजनों से होता है। उस समय भी कविश्रीजी के विचारों में, चिन्तन में गहराई एवं सत्य को निर्भय एवं निर्द्वन्द्व भाव से अभिव्यक्त करने का साहस स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यही कारण है कि उनके काव्य एवं गीतों की ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज, आचार्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज एवं (उस समय के उपाध्याय) आचार्य श्री आत्मारामजी महा-

[तीन]

राज ने मुक्त - कंठ से प्रशंसा की। आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज द्वी कविश्रीजी द्वारा रचित धार्मिक, देश - प्रेम एवं भक्ति रस से आप्लावित गीतों को अपने प्रवचनों में भी गाते थे।

काव्याञ्जलि की कविताएँ सन् १९३६ में लिखी गई थी। ५३-५४ वर्ष पूर्व भी कविश्रीजी के विचार साम्प्रदायिक मान्यताओं के क्षुद्र घेरों से पूर्णतः मुक्त थे। वे बिना किसी भेद - भाव के मानव-जाति के उत्थान एवं सेवा के लिए स्पष्ट आह्वान करते हैं। एक कविता में वे कहते हैं।

“मरणोन्मुख रंक बुभुक्षित हो, पग-द्रव्य कभी न उठावत है।
दलितादिक बेकस - बेवस की गह बांह स्वबन्धु बनावत है ॥
निज देश - समाज-हितार्थ सभी धन-राशि सहर्ष लुटावत हैं।
नर-रत्न जगत्त्रय पूजित के, ‘कर-युगम सुरत्न’ कहावत हैं ॥”
एक स्थान पर ‘अमूल्य नर - जीवन’ के शीर्षक से आप कहते हैं—

“उपकार करो तन से, मन से,
धन से, जन से, जग - दुःख हरो।
अविचार, अनीति तजो सब ही,
मत वैभव का कुछ गर्व करो ॥
अपने पर खूब सचेत रहो,
फिर तो जग में अणु भी न डरो।
नर-जन्म अमोल मिला, कुछ तो,
पर-लोक हितार्थ निकाल धरो ॥”

प्रसन्नता है, कि काव्याञ्जलि का द्वितीय संस्करण पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि पाठक इससे जीवन में नई दिशा एवं प्रेरणा प्राप्त करेंगे।

—तनसुखराज डागा
मंत्री, वीरायतन

[चार]

भूमिका

अगर इस 'काव्य' की भूमिका हिन्दी के किसी प्रसिद्ध विद्वान की लेखनी द्वारा लिखी जाती, तो इन कविताओं के महत्त्व का यथार्थ वर्णन हो सकता था। परन्तु, उदार हृदय मुनिश्री ने यह कार्य सौभाग्यवश मुझ जैसे एक 'अल्पज्ञ' व्यक्ति के सुपुर्द कर दिया है।

मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं है कि मैं हिन्दी कविता के नियमोपनियमों के विषय में कुछ नहीं जानता। तो भी इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि—प्रस्तुत पुस्तक में मुनिजी ने हृदय की उदारता का, दुखितों व दलितों के प्रति सहा-नुभूति का, और देश, जाति एवं धर्म के प्रेम का बड़े ही सरस एवं हृदय ग्राही शब्दों में परिचय दिया है। वर्तमान समय भारतवर्ष के इतिहास में Period of Renaissance and Reformation कहलाएगा। लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व यूरोप में भी इसी प्रकार का समय आया था। कहा जाता है कि—उस समय के मनुष्यों में एक प्रकार की खलबली - सी मच गई थी, मानसिक हलचल हो गई थी, साधारण - से - साधारण मनुष्य भी सीधी तरह से बिना सोचे - समझे हर प्रकार की प्राचीन बात पर अन्ध - विश्वास न करके स्वयं उसकी सत्यता का अनुसन्धान करने लग गए थे। परिणाम यह हुआ कि यूरोप में बड़े - बड़े विद्वान्, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, दार्शनिक, कवि, लेखक, धर्मात्मा और शूरवीर पैदा हुए—फलस्वरूप अल्प समय में ही यूरोप की चाल - ढाल बदल गई। हमारे देश में भी कुछ थोड़े - बहुत अन्तर के साथ वैसा ही समय आजकल दिखाई देता है।

[पाँच]

विज्ञान की चतुर्मुखी उन्नति ने मानव - जीवन के लिए हर प्रकार के सुख की सामग्री पैदा कर दी है। फिर भी राष्ट्र के जीवन में कविता ने सदा से एक ऐसा उच्च स्थान पा रखा है, जिसकी पूर्ति और किसी प्रकार से नहीं हो सकती। यूरोप के कितने ही देश वहाँ के कवियों और लेखकों द्वारा ही उन्नत हुए हैं। अंग्रेजी भाषा में कई कविताएँ ऐसी पढ़ने में आती हैं कि जिनसे हृदय सहसा फड़क उठता है और एक भारतीय हृदय में यही भाव पैदा होता है कि ऐसी कविता हमारी भाषा में भी क्यों न हो ?

मुझे हिन्दी कविताओं के अधिक पढ़ने का अवसर नहीं मिला। जो कुछ भी मेरे देखने में आया है, उस पर से मैं तो यही समझा हूँ कि पहले के कवि क्या तो अधिकतर धार्मिक विषयों पर अच्छा लिखते थे या कल्पित विषयों पर। कल्पित विषयों के सम्बन्ध में मुझे हिन्दी कवियों के प्रति वही शिकायत है, जो उर्दू कवियों के प्रति है। मेरा आशय यह है—प्रायः कविता में अस्वाभाविकता (Artificiality) आ जाती थी, जिससे हृदय पर कोई स्थायी प्रभाव (Lasting Effect) नहीं हो पाता था। यदि कहीं उपमा की आवश्यकता हुई, तो ऐसी उपमा दी गई, जो नामुमकिन की हद पर पहुँच गई। इसका परिणाम आखिरकार यह हुआ कि उच्च श्रेणी की कविता इने - गिने थोड़े से विद्वानों तक ही सीमित रह गई और साधारण मनुष्य कविता के क्षेत्र से वंचित ही रह गए। यह मेरी अपनी व्यक्तिगत सम्मति है, सम्भव है, इसमें कुछ त्रुटि भी हो।

अब कविता की प्रणाली में परिवर्तन हो चला है। उदाहरणार्थ बाबू मैथिलीशरण गुप्त की कविता की शैली वर्तमान युग के पाठकों को कुछ अधिक रुचिकर है। साधारण शब्द, उच्च

[छह]

भाव और वह उपमा, जिसका जीवन में सत्य होना संभव हो— आजकल कविता जगत् की ये ही विशेषताएँ समझी जाती हैं ।

मुनिजी की कविता में मैं यही देखता हूँ कि ऊँचे भाव, ऊँचे आदर्श साधारण शब्दों में रखे गए हैं और ऐसा मालूम होता है कि कवि ने सर्वसाधारण के सामने अपना भावुक हृदय खोलकर रख दिया है । यद्यपि कविश्रीजी जैन धर्म के माने हुए उच्च कोटि के मुनि हैं, किन्तु इनकी कविता में 'साम्प्रदायिकता' लेशमात्र भी नहीं है । परमात्मा की प्रार्थना पढ़ने से शान्ति होती है । देश के विषय में पढ़ने से स्वदेश प्रेम जागृत होता है । शूद्रों (जिनको अब इस नाम से पुकारना भी अच्छा नहीं लगता) की दशा तो बड़े ही हृदय-द्रावक शब्दों में वर्णन की गई है ।

इस देश में साधु - सन्यासी सदा से ही पूजनीय समझे जाते रहे हैं । किन्तु, वर्तमान काल में इनकी अधिक संख्या और असन्तोषजनक आचरण ने इन सबकी देश पर एक प्रकार से भार - सा बना दिया है । जैन मुनियों ने साधुओं और प्रचारकों के लिए वास्तव में एक महान् सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है, जिनसे उनका और देश का—दोनों ही का कल्याण हो सकता है ।

मुझे आशा ही नहीं दृढ़ विश्वास है कि श्रद्धेय मुनिजी के अतिशय मनोहर 'कविताओं' से प्रत्येक हिन्दी पढ़ने वाले सज्जन, अवश्य ही लाभ उठाएँगे—युगानुसारी साधना-पथ पर अग्रसर होंगे ।

नारनौल
१६, नवंबर, १९३६

रामशरण चन्द मित्तल, एम. ए.,
एल. एल. बी, एडवोकेट

[सात]

स्वर्णिम-रेखा

नये समय की स्वर्णिम आभा,
काल क्षितिज पर चमक रही ।
द्रुत चरणों से बढ़कर आगे-
आओ, तुम्हें पुकार रही ।



घन्य घन्य वह घन्य जीव है,
नया स्वप्न जिसने देखा ।
नये स्वप्न से चमका करती,
जीवन की स्वर्णिम रेखा ॥

उपाध्याय अन्नमणि

महावीर

शान्ति - सुधारस के वर सागर,
क्लेश अशेष समूल संहारी ।
लोक अलोक विलोक लिए,
जगलोचन केवल - ज्ञान के धारो ॥
शेष - सुरेश - नरेश सभी,
प्रणमें पद - पंकज बारं वारी ।
वोर जिनेश्वर धर्म दिनेश्वर,
मंगल कीजिए मंगल - कारी ॥
वीर जयन्ती १९३६

क्षण भंगुरता

भीम जैसे बली फेंके नभ में गजेन्द्रवृन्द,
पार्थ - जैसे लक्ष्यवेधो कीर्ति जग जानी है ।
राम - कृष्ण जैसे नर पुंगव जगत पति,
रावण की दैत्यता भी किसी से न छानी है ॥
काल के न आगे चली कुछ भी बहाना बाजी,
छिनक में छार भये रह गई कहानी है ।
तेरे जैसे कीटाकार मूढ़ की बिसात क्या है,
करले सुकृत चार दिन जिन्दगानी है ॥
दिनांक : ८ मई १९३६ बाघौर दुर्ग,

परोपकार

ग्रीष्म में दवाग्नि जैसी भेल के प्रचण्ड धूप,
पथिकों को अति ठंडी छाया में बिठाता है ।
वर्षा में धूँवाधार पानी निज शीष ओट,
नर, पशु - पक्षी भीग जाने से बचाता है ॥
शीत में तुषार और पवन से त्राण पाने,
दीनों का तो जैसे यह सहारा बन जाता है ।
पर - उपकार - हीन नर - तन - धारी से तो,
वृक्ष ही है अच्छा, जो कि जड़ कहलाता है ॥
दिनांक : ८ मई १९३६ वाधोर दुर्ग

खल

देखनी हो खल की प्रकृति कैसी होती है,
तो नाचते मयूर का स्वरूप लख लीजिए ।
अग्र भाग कैसा रम्य नाना भाँति - रंगयुत,
मानों दिन रात खड़े - खड़े देखा कीजिए ॥
किन्तु जरा धूम - फिर पीछे की तरफ चल,
एक वार रूप - लोभी नेत्र खोल दीजिए ।
आगे कुछ और है, तो पीछे कुछ और ही है,
मात्र अग्र भाग पे न रीझिए पतीजिए ॥
दिनांक : १० मई १९३६ अजित निवास

दोषदृष्टिपरं मनः

स्वर्णपात्र - भरे शुद्ध मेवा और मिष्टान्न छोड़,
शूकर पुरीष की ही खुशियाँ मनाता है ।
मक्षिका को सुन्दर शरीर पै जखम छोड़,
पुष्प - माला आदि अन्य कुछ नहीं भाता है ॥
नीच जौक सुरभी के स्तन में लगा के मुँह,
दुग्ध-पान छोड़ गंदा रक्त चूस जाता है ।
दुष्ट दुराचारी भी गुणी के पास बैठ मात्र,
दोष देखता है, नहीं गुण देख पाता है ।
नारनील, श्रावण, १९९३

मस्तक - रत्न

जब विश्वहितंकर सन्त मिलें, चरणों पड़ धूलि लगावत है ।
फँस संकट चक्र कभी निज को न असत्य समक्ष भुकावत है ॥
कुविचार न एक कदापि उठे सुविचार असंख्य उठावत है ।
नर रत्न जगत्त्रय - पूजित का वह 'मस्तक' रत्न कहावत है ॥
दिनांक : १० मई १९३६ जय समुद्र

मानस - रत्न

स्फटिकोज्ज्वल स्वच्छ सदैव रहे अधपंक सुदूर हटावत है ।
जगन्नाथ अनंत दयानिधि को हृद-मन्दिर बीच वसावत है ।
निज के दुख में पवि, तो पर के नवनीत सदा बन जावत ॥
नर रत्न जगत्त्रय पूजित का वह 'मानस - रत्न' कहावत है ॥
दिनांक । १० मई १९३६ जय समुद्र

आनन-रत्न

सुख हो दुख हो कुछ प्रभु के अविराम गुणस्तव गावत है ।
प्रिय मित्र तथा अरि हो सबको हित शिक्षण सत्य सुनावत है ॥
अपने गुण के प्रति मौन रहे पर के गुण स्पष्ट बतावत है ।
नर रत्न जगत्त्रय पूजित का वह 'आनन रत्न' कहावत है ॥
दिनांक : १० मई १९३६ जय समुद्र

हस्त-रत्न

मरणोन्मुख रंक बुभुक्षित हो पर - द्रव्य कभी न उठावत हैं ।
दलितादिक वेकस बेवस की गह बाँह स्वबन्धु बनावत हैं ॥
निज देश - समाज-हितार्थ सभो धनराशि सहर्ष लुटावत हैं ।
नर रत्न जगत्त्रय पूजित के 'कर युगम सुरत्न' कहावत हैं ॥
दिनांक : १० मई १९३६ जय समुद्र

चरण-रत्न

प्रण-वीर महान, न स्वत्व कभी पथनीति विसार गँवावत हैं ।
मिल जाय यदा पर-दुख-कथा भट तत्र स्व-दौड़ लगावत हैं ॥
कट जाय सहर्ष रणांगण में पर पैर न एक डिगावत हैं ।
नर-रत्न जगत्त्रय पूजित के 'चरणोत्तम रत्न' कहावत हैं ॥
दिनांक : १० मई १९३६ जय समुद्र

प्रश्नोत्तरी

(१)

अधम से किस भांति महान हो ?
प्रणत हो, न कभी अभिमान हो ।
स्व-पर - शंकर कार्य - वितान हो,
तनिक भी ममता तवता न हो ।

(२)

सुयश-केतु कदा फहरायगा ?
पतित के प्रतिप्रेम दिखायगा ।
समभ बन्धु स्वकण्ठ लागायगा,
नहिं घृणा कर नाक चढायगा ।

(३)

अटल सत्यव्रती कब से बने ?
जब कि सत्य कहे मधु - से सने ।
प्रण तजे न, सहे दुख भी घने,
नित रहे हरिचन्द्र स्व - सामने ।

(४)

पशु - सखा नर कौन यहाँ हुआ ?
शठ निजोदर पूरक जो हुआ ।
कुकृत काम - मदोद्धत जो हुआ
तज विवेक परानुग जो हुआ ।

[५]

(५)

नर - कलेवर पाकर क्या किया ?

परहितार्थ निजार्थ भुला दिया ।

तन - धन - स्व सहर्ष लुटा दिया,

जगत - जन्म कृतार्थ कहा दिया ।

(६)

विबुध क्यों जगती - तल में बड़ा ?

सदुपदेश सदा करता कड़ा ।

मृत स्वदेश जिला करता खड़ा

विकट संकट में रहता अड़ा ।

(७)

किस प्रकार विराग विचारना ?

मनुज - जीवन विद्युत - चाँदनी,

स्वजन वैभव बुदबुद—व्यंजना,

जगत स्वप्न अथेति प्रवंचना ।

(८)

गुरु - गिरा किसकी श्रवणीय है ?

चरित चारु समाचरणीय है ।

विमल बोध समादरणीय है,

तप व त्याग चिरस्मरणीय है ।

खेतड़ी पर्वत, १९३६

[६]

प्रशस्त-प्रार्थना

(१)

दया दुग्ध सिन्धो ! दुखी दुःख - हारी !
सदा निर्विकारी ! भव-भ्रान्ति-हारी !
हृदागार में ज्ञान - ज्योति जगा दो ।
अविद्या - तमस्तोम दूर भगा दो ॥

(२)

भले ही करें लोग निन्दा - बुराई ।
बनें प्राण - वैरी, न माने भलाई ॥
हमें स्वप्न में भी नहीं रोष आवे ।
भलाई न छोड़ें, भले जान जावे ॥

(३)

दुखी - दीन ज्यों ही कहीं देख पावें ।
कि त्यों ही स्वतः अश्रु - धारा बहावें ॥
सभी भाँति आनन्द - भागी बना दें ।
खुशी से स्व-संपत्ति सारी लुटा दें ॥

(४)

विपद् - ग्रस्त चाहे बनें क्यों न कैसे ?
रहें धैर्य - धारी हरिश्चन्द्र जंसे ॥
प्रति - ज्ञात - वाणी कभी भी न छोड़ें ।
निजोद्देश की ओर निर्बाध दौड़ें ॥

[७]

(५)

किसी को नहीं जन्मतः नीच माने ।
अछूतादि मिथ्या सभी भेद जाने ॥
घृणा पापियों से नहीं, पाप से हो ।
रहें स्नेह से सर्व ही भ्रात से हो ॥

(६)

सदा मातृ - भू की प्रतिष्ठा बढ़ावें ।
पराधीनता की व्यथा से बचावें ॥
जहाँ हों वहीं सभ्यता हो स्वदेशी ।
कभी स्वप्न में भी नहीं हो विदेशी ॥

(७)

नहीं चाहते नरक में दैत्य होना ।
नहीं चाहते स्वर्ग में देव होना ॥
हमारी प्रभो ! आपसे प्रार्थना है ।
हमें तो मनुष्यत्व की चाहना है ॥

महेन्द्रगढ़, १९३६



[८]

जगन्नाथ

जगन्नाथ ! जरा इस ओर भी,
चरण - किकर की सुधि कीजिए ।
विकट दुर्मति - वारिधि में बहा,
सुमति - पीत बिठा भट दीजिए ॥
अमित जन्म - समर्जित पाप की,
मलिनता ममता कृपया हरो ।
परम पावन पुण्य - पवित्रता,
पतित-बन्धु ! ममान्तर में भरो ॥
कुटिल काल - पुलिन्न अनादि से,
मरण - चक्र सवेग घुमा रहा ।
त्वरित आ कर नष्ट करें इसे अभी,
अह ! किमर्थ विलम्ब लग रहा ॥
विषय - भोग - विलास - कुवासना,
हृदय से क्षण भी हटती नहीं ।
कर विनष्ट विचूणं यहीं रहो,
हृदय - मन्दिर में तुम नित्य ही ॥
निज समान तुरन्त बना लिए,
चरण पंकज - आश्रित जो रहे ।
यदि नहीं इतना, तब दास तो,
अधम भी प्रति जन्म बना रहे ॥
पार्श्व-जयन्ती, १९६२

स्वतंत्रता का सुख

कवि : कैसा सुवर्णमय सुन्दर पिंजड़ा है,
द्राक्षादि खाद्य बहु भाँति भरा पड़ा है ।
आनन्द है सतत, खेद जरा नहीं है,
तेरे समान शुक ! अन्य सुखी नहीं है ॥

शुक : हाँ, ठीक है, उपरि ढंग बुरा नहीं है,
मत्तुल्य किन्तु दुखिया जग में नहीं है ।
ज्वालामुखी हृदय में फट-सा रहा है,
स्वातंत्र्यहीन बन कौन सुखी रहा है ॥

रामनिवास-जयपुर, १९६०

श्रेष्ठ श्रोता

सारे काम छोड़ - छाड़ त्यागी गुरुओं के पास,
वाणी श्रवणार्थ जो कि नित्य - नित्य जावेंगे ।
शंका - समाधान द्वारा चर्चणा करेंगे खूब,
अन्तर हृदय में शुद्ध देशना पचावेंगे ॥
पीछे ना रहेंगे कभी संकट सहेंगे सभी,
किन्तु जो सुना है उसे अमल में लावेंगे ।
वे ही श्रेष्ठ श्रोताजन करके अपार भव—
सागर को पार शीघ्र मुक्ति-द्वार पावेंगे ॥

भक्ति-पोत

भक्तिभाव का सुन्दर दृढतम,
द्रुतगामी ही नव - जलयान ।
पार करे शत - शत भव - वर्द्धित,
अति दुस्तर भवसिन्धु महान ॥
जिनकी रग - रग में न खोलता,
भव्य - भक्ति का अभिनव रक्त ।
हृदय - हीन श्रद्धा - विरहित वे,
हो सकते हैं क्यों कश् भक्त ॥
भक्ति - मधुर मधु प्रमुदित पीकर,
बनिये तो कुछ दिन अलमस्त ।
फिर देखो, भगवान विकल हो,
कैसे सतत लगावें गश्त ॥
ज्यों धारस के स्पर्श - मात्र से,
बनता अयः कनक द्युतिपूर्ण ।
पामर भक्त विरक्त भक्तिरत,
त्यों भगवान बने अतिपूर्ण ॥
भक्तियोग सर्वोच्च योग है,
अगर साथ हो उचित विवेक ।
सर्वनाश का बीज अन्यथा—
अन्ध भक्ति का है अतिरेक ॥

दिनांक : २८ अप्रैल १९३६

अजित समुद्र

चाह

चाह नहीं, सुखधाम स्वर्ग में देवराज बन जाने की ।
चाह नहीं, बन धर्म प्रवर्तक जग में पैर पुजाने की ॥
चाह नहीं, दुर्जय कोटि-भट विश्व-जयी कहलाने की ।
चाह नहीं धनराशि अमित पा घन कुबेर पद पाने की ॥
चाह यही, अज्ञात - रूप से, पड़ा रहूँ जग में भगवान !
दुखी दीन दुर्बल की खातिर होजाऊँ, हँस - हँस बलिदान !
दिनांक : १५ अक्टूबर १९३६ बसई

अमूल्य नर - जन्म

उपकार करो तन से, मन से,
घन से, जन से, जग - दुःख हरो ।
अविचार, अनीति तजो सब ही,
मत वैभव का कुछ गर्व करो ॥
अपने पर खूब सचेत रहो,
फिर तो जग में अणु भी न डरो
नर - जन्म अमोल मिला, कुछ तो—
परलोक हितार्थ निकाल धरो ॥

—खेतड़ी, सन् १९३६

अनेकान्त दृष्टि

सरिता, तट - वर्ती नगरों को,
देती है सुख - शान्ति अपार ।
किन्तु बाढ़ में वही मचाती,
प्रलय काल - सा हाहाकार ॥
अग्नि कृपा से चलता है सब,
पाक आदि जग का व्यवहार ।
किन्तु उसीसे क्षणभर में हा !
भस्म - राशि होता घर - बार ॥
सघन जलद सूखी खेती में,
करता नव - जीवन संचार ।
वही पलक में कृषक - काल हो,
जड़ा मूल से करे संहार ॥
विष - लव अणु - सा भी दिखलाता,
यमपुर का भट रौद्र - द्वार ।
किन्तु, बचा दुःसाध्य रोग से,
बने कभी जीवन - दातार ॥
भला - बुरा एकान्त जगत में,
कोई न देखा आँख पसार ।
अखिल सृष्टि गुण - दोषमयी है,
किस पर करिये द्वेष और प्यार ॥

दिनांक : २ मई १९३६

अजित-समुद्र

[१३]

शिशु का अपना परिचय

पूज्य भारत मातृ - भू की;
चाहती संतान हूँ मैं ।
राष्ट्र, मंडल, जाति, कुल की,
जागती जी - जान हूँ मैं ।
आज का लघु शिशु पयोमुख,
ना समझ नादान हूँ मैं ।
हाँ, भविष्यत का महत्तम,
वृद्ध वर धीमान हूँ मैं ।
आज क्या, रजकण जरा-सा,
तुच्छ हूँ बे - भान हूँ मैं ।
देखना कुछ दिन, हिमाचल,
विश्व - वन्द्य महान हूँ मैं ।
वृद्धजन आशा - लता का,
पुष्प चिर - अम्लान हूँ मैं ।
सर्व - विध सौरभ गुणों का,
आद्य केन्द्र स्थान हूँ मैं ।
द्वेष से अति ही घृणा है,
प्रेम पर कुरबान हूँ मैं ।
सौम्य सस्मित सर्व - सुन्दर,
विश्व में असमान हूँ मैं ।
नव्य युग सर्जन करूँगा,
जीर्ण - कण्ठ कृपाण हूँ मैं ।

क्रान्ति-रण का अग्र योद्धा,
 कष्ट - कर कल्याण हूँ मैं ।
 धर्म - ध्वंसक कुप्रथाओं -
 के लिए तूफान हूँ मैं ।
 दंभ का, पाखंड का, भ्रम —
 का, प्रलय अवसान हूँ मैं ।
 भूमि - तल पर विश्वपति का,
 श्रेष्ठ - तम वरदान हूँ मैं ।
 अन्त - कर काली निशा का,
 रम्य स्वर्ण विहान हूँ मैं ।
 कृष्ण - सा सत्कर्म - योगी,
 दैत्यारपु - अभिधान हूँ मैं ।
 भीष्म - सा वर ब्रह्मचारी,
 भीम - सा बलवान हूँ मैं ।
 वीर - वर अभिमन्यु निर्भय,
 साहसी धृतिमान हूँ मैं ।
 तात पद पूर्त्यर्थ करता,
 घोरतम घमसान हूँ मैं ।
 श्री भरत - दुष्यन्त कुलमणि,
 शौर्य - श्रोतस्वान हूँ मैं ।
 सिंह - शिशु के दाँत गिनता,
 खींचता युग कान हूँ मैं ।
 मृत्यु - भीति प्रलोभनों पर,
 ठोकरोँ की तान हूँ मैं ।
 पंचनद दीपक हकीकत,
 धर्म पर बलिदान हूँ मैं ।

वीर - पुंगव पूर्वजों का,
भक्त श्रद्धावान हूँ मैं ।
और आगामी प्रजा का,
पूज्य - पद भगवान हूँ मैं ।
अन्ततः माता - पिता के,
खेल का सामान हूँ मैं ।
जो विचारे, सो बना ले,
देव हूँ, शैतान हूँ मैं ।

मलेन्द्रगढ़, माघ १९९२



क्षमा

क्षमा समान श्रेष्ठ - ज्येष्ठ धर्म और कौन है ?
भला सुमेरु से बड़ा महीधर और कौन है ?
क्षमा बिना समग्र उग्र कर्म - काण्ड व्यर्थ है
अभीष्ट स्वर्ग - सौख्यदा सदा यही समर्थ है ॥
निकाल लाल - लाल आंख नाक - भौंह सिकोड़ के
असभ्यता प्रपूर्ण भ्रष्ट - भ्रष्ट गालियाँ बके ।
सदा प्रचण्ड क्रोधि की दवाग्नि से जला मरे,
मनुष्य क्या, पिशाच है, जरा न जो क्षमा करे ॥
क्षमा वही स्वमित्र के समान शत्रु को लखे,
कभी किसी प्रकार की विरोधिता नहीं रखे ।
प्रशान्त चित से सदैव स्नेह स्रोत - सा बहे,
मुखारविन्द पै कृपामयी प्रसन्नता रहे ॥
असह्य भर्त्सना तथा वध - प्रहार भी सही,
अखंड श्रेय सर्वथा स्व - शत्रु का सदा चहो ।
मसीह (ईसा) सूलि की सुतीक्षण नोक पै चढ़ा हुआ,
प्रसन्न हो, अराति - अर्थ मांगता रहा दुआ ॥
बलिष्ठ के समक्ष 'चू' करें न, मौन साध लें,
परन्तु दीन - हीन पै तुरन्त तेग तान लें ।
नपुंसकाग्रगण्य वे मनुष्य नीच निन्द्य हैं,
क्षमाव्रती - समाज में नहीं कदापि वंद्य हैं ॥

नागल, आषाढ़, १९९३

दीपक

दीपक ! तू सचमुच दीपक है,
अपनी देह जलाता ।
तम - परिपूर्ण नरक - सम गृह को,
क्षण में स्वर्ग बनाता ॥
अपने मलिन धूम्र को भी तू,
तनिक न व्यर्थ गँवाता ।
सुन्दरियों के चपल हृद्यों में,
कज्जल रंग बरसाता ॥
शीघ्र कटा कर दुगुना जलता,
तम को मार भगाता ।
अमर विजय मरने वाला ही—
पाता सदा बताता ॥
अपने तले अँधेरा रहता,
जग - प्रकाश फैलाता ।
परोपकार - निरत वीरों को,
अपना ध्यान न आता ॥
“मैं नगण्य क्या कर सकता हूँ ?”
दीपक ! तुझे न भाता ।
सूर्य - चन्द्र - अगम्य - में,
जग - मग ज्योति जगाता ॥
स्नेह - हीन जग जीने से तो,
मरना भला कहाता ।

अतः स्नेह बिना दीपक ! तू भी,
 भट - पट स्वर्ग सिधाता ॥
 बाधक - अधम पतंगों को द्रुत,
 यमपुर - दृश्य दिखाता ।
 कर्तव्य-मार्ग में विघ्न-विमर्दक,
 रहना सतत सिखाता ।

महेन्द्र गढ़, १९६२

सन्तजन

मधुर मधु - सुधा से, नीम जैसे कट्ट हैं,
 कठिन कुलिश - जैसे, पुष्प - जैसे मृदू हैं ।
 रजकण - सम छोटे, शैल - जैसे बड़े हैं,
 चकित जगत है, ये सन्त कैसे घड़े हैं ॥
 जगत सब अविद्या - सिन्धु में डूब जाता,
 फिर न कुछ विचारे का पता आज पाता ।
 सदय - हृदय - धारी सन्त ही की दया है,
 समय पर सहारा सर्वदा ही दिया है ॥
 प्रिय सुत वनिता का सर्वथा मोह छोड़ा,
 अतुल धन-धरा से भी स्व-सम्बन्ध तोड़ा ।
 सुध - बुध निज भूले मत्त - से घूमते हैं,
 पतित - जगत - जीवों को सदा तारते हैं ॥
 चतुर कहत कोई, मूढ कोई बताता,
 सकल सुखद कोई, व्यर्थ कोई बताता ।

समुद्र युग - दृगों से एक - सा देखते हैं,
जगत - हित प्रभू से तन्त ही चाहते हैं ॥
पतित जन घृणा से नित्य जाते सताये,
मनुज - कुलज जाते स्वान ज्यों दुर्दुराये ।
अवनति अति होती जा रही है जिन्हों की,
जन्म-भर बजाते सन्त सेवा उन्हों की ॥
सघन घन - घटाएँ संकटों की घिरी हैं,
पर, न अचल वाणी सज्जनों की फिरी है ।
अभय हृदय आगे मृत्यु भी कांपती है,
हरि-मुख हरिणी-सी भीत हो भागती है ॥

अजमेर - मुनि, सम्मेलन, १९६०

विश्व-वन्द्य महावीर

क्रान्ति का बजा के सिंहनाद धोर-गर्जना से,
आलस्य - संहार देश सोते से जगाता है ।
दीन-दुःखी दुर्बलों की सेवा की कंठीली बलि-
वेदी पर सहर्ष भेंट प्राणों की चढ़ाता है ॥
आँखों के समक्ष खुद काल भी खड़ा हो क्यों न,
भीति नहीं लाता मन मेरु - सा बनाता है ।
सादर समस्त जग - मण्डल से धूलि भरे,
अपने चरण वो ही वीर पुजवाता है ॥

१९, अक्टूबर, १९३६

नारनौल,

वीर वन्दन

प्रभो वीर ! तेरा ही केवल सहारा,
जगत में न कोई शिवंकर हमारा ।
सभो ओर कर्मों का घेरा डला है,
कृपा ऐसी कर कि उड़े पारा - पारा ॥
जला ज्ञान दीपक दिखा मार्ग सदसत्,
भटकते फिरें, घोर धुंध पसारा ।
निकट शीघ्र - से - शीघ्र अपने बुलालो,
पड़े ताकि जग में न आना दुबारा ॥

महेन्द्रगढ़, १९३५

व्यर्थ-जीवन

छल - छन्द अनेक प्रकार रचे,
सदसत् - प्रविवेक विनष्ट भया ।
सबके दिल में बन शल्य रहा,
न करी कबहूँ तिलमात्र दया ।
मदमत्त बना विषयासव से,
मिश्रित पी यौवन की विजया,
अपना पर का हित साध सका—
कुछ भी नहीं, व्यर्थ नृजन्म गया ॥

खेतड़ी, सन् १९३६

अछूत - क्रन्दन

‘अछूत’ ! क्या नाम रक्खा हमारा,
चले हृदय पै रह - रह दुधारा ।
घृणा टपकती प्रति - अक्षरों से,
किए सभी भाँति नरेत्तरों-से ॥

गिनें - गिनावें नित हिन्दुओं में,
घुसे हमारे बल कौंसिलों में ।
पता न पाया पर बन्धुता का,
रहा सदा वर्तन शत्रुता का ॥

तड़ाग में वस्त्र मलीन धोले,
स्वदेह श्वा - शूकर भी भकोले ।
पर न हम धो मुँह - हाथ पावें,
निराश वापिस लोट बस आवें ॥

अ - वारि मछली सम बिलबिलाते,
तृषार्त भरने जल कूप जाते ।
वहाँ दड़ादड़ होती कुटाई,
जहाँ भरे जल अब्दुल कसाई ॥

धजा निराली, प्रभु - मन्दिरों की,
बजें सदा पायल रंडियों की !
परन्तु हम हा ! घुसने न पाते,
जगत्पिता - दर्श न पुत्र पाते ॥

उठा सड़ा कुक्कुर गोद लेते,
गजब कि सस्नेह मुख चूम लेते ।

समीप में हम यदि पहुँच जाते,
 बिदक भगे भट, बकते - बकाते ॥
 बनें यवन जब चुटिया कटा के,
 बड़ी खुशी से गोमांस खाके ।
 अजी, मियाँजी ! कह तब बुलावें,
 भटपट सिराहने पर ला बिठावें ॥
 बुरा हमारा बस हिन्दु होना,
 भला विधर्मी दुर्वृत्त होना ।
 समूल ही बुद्धि गई तुम्हारी,
 विचित्र - सी है जड़ता तुम्हारी ॥
 सदैव सेवा करते तुम्हारी
 अमूल्य बीती हम - आयु सारी ।
 हमें सँभाला तुमने कभी क्या ?
 'मनुष्य ये भी' सोचा कभी क्या ?
 शराब पीएँ, गोमांस खाएँ,
 दवा विदेशी सब चाट जाएँ ।
 यथापि ना धर्न गया तुम्हारा,
 भगा कि पल्ला भिड़ते हमारा ॥
 नहीं महीसुर, अतिशूद्र ही हैं,
 नहीं समुन्नत सिर, पैर ही हैं ।
 मनुष्य तो हैं, अब तो सँभालो,
 गरीब भाई विगड़ें बचालो ॥

नारनील, सन् १९३६

[२३]

पाप की घटाएँ

पाप की काली घटाएँ छा रही संसार में ।
सूभता कुछ भी नहीं अज्ञान के अन्धकार में ॥१॥

अघखिले फूलों से कोमल बालकों के व्याह रचा ।
बन्द करते हो ! कुल-क्षय हेतु शयनागार में ॥

पाप की काली घटाएँ छा रही संसार में ॥२॥

मौत के मेहमान बूढ़े मौड़ बाँधे शान से ।
बाल - विधवा दें बिठा व्यभिचार के बाजार में ॥

पाप की काली घटाएँ छा रही संसार में ॥३॥

रंडियों के चरन चूमें, थैलियाँ अर्पण करें ।
धर्मपत्नी को रखें नित ठोकरों की मार में ॥

पाप की काली घटाएँ छा रही संसार में ॥४॥

गर्दनें कटती धड़ाधड़ पूज्य गौ माताओं की ।
आह चबा जाते नराधम नित्य के आहार में ॥

पाप की काली घटाएँ छा रही संसार में ॥५॥

शीश भट फोड़े, अछुतों से अगर पल्ला भिड़े ।
बिल्लियों कुत्तों से लेकिन मुँह चटाते प्यार में ॥

पाप की काली घटाएँ छा रही संसार में ॥६॥

पाप का ताण्डव 'अमर' चारों तरफ ही हो रहा ।
डगमगाती धर्म - नौका बह चली मंझधार में ॥

पाप की काली घटाएँ छा रही संसार में ॥७॥

नारनौल, पर्युषण, १९६३

शरत - मेघ

दुष्ट मेघ ! वृथैव क्यों,
करता है भीषण गर्जना ।
दे रहा है क्यों जगत को,
लोभ - हर्षण तर्जना ॥

पूयाम कर स्वशरीर सारा,
तू डराता है किसे ?
चंचला चमका चमत्कृत,
तू बनाता है किसे ?

घूमता - फिरता गगन में,
क्या निशाचर की तरह ?
सिमट कर आता कभी,
अति क्रूढ़ भालू की तरह ॥

छोड़ता धारा कभी - कभी,
कण कृपण नश की तरह ।
छलछेकता महती दिखाता,
कुहक - जोवी की तरह ॥

मूढ ! जब उत्तप्त थी,
ग्रीष्म ऋतु से सब मही ।
शुष्क थे जलस्रोत सारे,
बूंद थी दिखती नहीं ॥

बाट जोहती थी कृषक - नर,
मँडली तेरी यदा ।

क्यों न आया, क्या कहीं,
मारा गया था तू सदा ॥

सूखता था क्या बता,
अब क्षेत्र सुन्दर शालि का ।
या बुलाया था किसी ने,
फेर कर जप - मालिका ॥

जो तू आया शीत ऋतु के,
इस भयंकर काल में ।
बर्फ की चट्टानें जमती,
हन्त ! अनु दिन ताल में ॥

दीन मर्त्य क्षुधा - प्रपीड़ित,
है न शक्ति शरीर में ।
जानु युग में सिर लगा,
निश काटते स्व कुटीर में ॥

वात - ताड़ित वल्लरी - सम,
नग्न थर - थर काँपते ।
शीत के मारे किटा - किट,
दाँत रह - रह बाजते ॥

मत सतावे हीं स्वयं मृत,
दीन मानव - वृन्द को ।
छोड़ दे गर्जन व तर्जन,
के व्यथा - कर द्वन्द्व को ॥

जाइए, अब जाइए, निज-
घाम सत्वर जाइए ।

देख अवसर फिर कभी,
अपने समय पर आइए ॥

अन्यथा दक्षिण समीरण,
जब चलेगा तब बता ।
ढूँढने पर भी न पाएगा,
कहीं भी तेरा पता ॥

जो गरीबों को सताता—
है, न रहता वह यहाँ ।
जुल्मगर स्थायी नहीं,
कहती सदा सर्वसहा ॥

सन् १९३६

हंस

हंस ! तुम्हारी दुग्ध - धीतै—
सी निर्मल काया;
नहीं प्रशंसित, क्योंकि तुम्हीं—
सा बक भी पाया ॥
मान सरोवर - वास श्रेष्ठता,
क्या कथ गावें ।
जलचर वृन्द अनेक,
जन्म जब वहीं बितावें ।
बड़े गर्व से अकड़ - धकड़,
क्या मोती चुगते ।
तुम से मत्स्य प्रशस्य,
मोती जो पैदा करते ॥

हाँ, इक बात विशेष तुम्हारी,
 सर्व जगत ने है जानी,
 कर दो तुम दुग्ध का दुग्ध,
 शीघ्र पानी का पानी ।
 इसी बात पर मात्र तुम्हारा,
 जगत यश सदा है गाता,
 वैभव का है नहीं मान यह,
 न्याय ही है आदर पाता ।

सन्, १९३५

लोभी

लोभी को न लज्जा होती भीति जाती शीघ्र छोड़,
 देश और जाति के समग्र तन्त्र देता तोड़ ।
 पुण्य को अस्पृश्य माने पाप से ले प्रेम जोड़ ।
 स्वार्थ के समक्ष धर्म - कर्म की लगा दे होड़ ।
 क्रूर वैरी करुणा का, हिंसा का अनन्य भक्त,
 एक काणी कोड़ी हेतु, बन्धु का बहा दे रक्त ।
 'लाओ जोड़ रक्खो' इन्हीं, शब्दों का प्रसार फक्त,
 शान्ति से न बैठ पाता, हाय - हाय, हर वक्त ।
 यत्र हिंस्र सिंह - व्याघ्र देखते ही काँपे मन,
 घूमते मसीव श्याम सर्वतः पुलिन्द जन ।
 तत्र घोर वन में बिता दे वर्ष - वर्ष दिन,
 किन्तु धर्म स्थान में बिताते पल - पल गिन ।

दान की भनक कान पड़ते बिदक पड़े,
मानो कोटि - कोटि बिच्छु शीश पै घसक पड़े ।
चमड़ी उतरवा ले हँस - हँस काम पड़े,
दमड़ी न दान-नामे कभी दोन-हाथ पड़े ॥

अन्त समय द्रव्य कुछ काम नहीं आएगा,
दोनों हाथ खाली किए जगत से जाएगा ।
दान - पुण्य विना आगे कुछ भी न पाएगा,
शीश धुन - धुन लोभी तब पछताएगा ॥

सन् १९३४

शरीर दुर्ग का ध्वंस !

नव यौवन के अति ही दृढ़ दुर्ग-
कलेवर मध्य मदान्ध पड़ा,
रस रंगन में निज भान भुला,
भरता निशि-वासर पाप घड़ा ।
शठ चेतन भूप ! विलोक जरा-
ध्वज मस्तक पै वह आन गड़ा,
अब व्याधि बड़ी यम-सैन्य चढ़ीं,
कर दें भट बाहर निकाल खड़ा ।

महेन्द्रगढ़, सन् १९३५

दिव्य जीवन

प्रतिक्षण क्षीण जीवन में अमर खुद को बना देना ।
भविष्यत की प्रजा को अपने पद-चिन्हों चला देना ॥

दुखी-दलितों की सेवा में विनय के साथ जुट जाना ।
अखिल वैभव बिना भिभके, बिना-ठिठके लुटा देना ॥

असत्पथ भूल करके भी कभी स्वीकार ना करना ।
प्रलोभन में न फँसकर, सत्य-पथ पर सर कटा देना ॥

क्रमागत कुप्रथाओं का, भ्रमों का, मूढताओं का ।
अधःपाती निशां मानव - जगत में से मिटा देना ॥

जिनेश्वर बुद्ध हरि हर हो, मुहम्मद हो या ईशा हो ।
सभी सत्य-व्रतों के आगे, निज मस्तक झुका देना ॥

सहस्राधिक प्रयत्नों से, मृतक - सम देश वालों में ।
नया जीवन नया उत्साह, नया युग ला दिखा देना ॥

अधिक क्या, जन्म लेने का यह अन्तिम सार ले लेना ।
अमर निज मृत्यु के दिन शत्रुओं को भी रुला देना ॥

कानौड, पौष, १९६२

उद्बोधन

अरे वीर पुत्रों ! सुनों अब न सोवो,
सँभल के उठो, स्व जीवन न खोवो ।
जरा देखो जल्दी यह क्या हो रहा है,
जमाना किधर से किधर हो रहा है ॥

सभी लोग आगे बढ़े जा रहे हैं,
पवन - वेग सर - सर चले जा रहे हैं ।
बड़ा खेद है तुम पड़े ऊँघते हो,
नहीं अपनी बाबत कभी सोचते हो ॥

घुसी हैं तुम्हारे में क्या - क्या प्रथाएँ,
लगी हैं तुम्हारे भी क्या-क्या बलाएँ ।
परस्पर सभी मत ज्यों लड़ रहे हो,
प्रलय की प्रबल आँधी में उड रहे हो ॥

शरम है बड़ी लक्ष्य से फिर गए हो,
महावीर - आदर्श से गिर गए हों ।
भला पुत्र वे जग में कैसे बड़े हों,
पिता के शुभादर्श से जो गिरे हो ॥

समझ अपने आदर्श को फिर सँभालो,
हृदय में 'अमर' वीर - वाणी ज्वालो ।
समुद्र कर्म के क्षेत्र में कूद आवो,
सदा वीर-जय से गगन को गुँजावो ॥

महेन्द्रगढ, दीपावली, १९३३

पतन

सदा के हँसनेवाले अब सतत आँसू बहाते हैं ।
पशु से भी गया बीता अधम जीवन बीताते हैं ॥
तरसते थे कभी सुर भी कि लेवें जन्म भारत में ।
यहाँ आने से अब तो नारकी भी जी चुराते हैं ॥
हमारे शिष्य बन - बन के विदेशी सभ्यता सीखे ।
हमें वे आज जंगली अर्ध - सभ्यों में गिनाते हैं ॥
कभी दिक् चक्र गूँजे थे हमारे युद्ध नादों से ।
अंधेरे में निकलते गीदड़ों से थर - थराते हैं ॥
दुखी को देख रो उठते हृदय से चट लगा लेते ।
अकारण आज दुखियों को हमों हँस - हँस सताते हैं ॥
हमारे ज्ञान - सूरज की जगत में ज्योति फँली थी ।
हमें अब गैर ज्ञानी बन ए. बी. सी. डी. पढ़ाते हैं ॥
वसन - भोजन हमारे से कभी संसार पाता था ।
बुभुक्षित नग्न अब तो रात - दिन रो - रो बिताते हैं ॥
सदाचारी तपस्वी थे कि आते इन्द्र दर्शन को ।
'अमर' अब तो अर्हनिश पाप - पथ की ओर जाते हैं ॥

२५, अप्रैल, १९३६

निजामपुर,

आदर्श साधु

जिसने प्रबल इन्द्रिय दलों पर प्राप्त कर ली है विजय,
जिस का सुमानस शान्त सुस्थिर और रहता है अभय ।
सुख - दुःख की परवाह नहीं करता किसी भी काल में,
सच्चा वही है साधु, जो फंसता न जग - जंजाल में ॥

विश्व के सुख - भोग को जो जानता है तुच्छ - तर,
निज संयमी विलास को सतत समझता श्रेष्ठ - तर ।
जो मन, वचन और कर्म द्वारा क्रोध करता है नहीं,
अभिमान-माया-ग्रन्थि-भेदक वर - त्यागी है वही ॥

सन्तोष के क्षीराब्धि में सत्स्नान जिसने कर लिया,
तृष्णा तरंगित - लोभनद जिसने सुशोषित कर दिया ।
जो सत्यता का, शीलता का, नम्रता का सिन्धु है,
वह वीर - त्यागी है, जो सारे विश्व का वर बन्धु है ॥

जिसका कि लाभालाभ में होता न चंचल चित्त है,
जिसके हृदय में ज्ञान का अक्षय - अनुत्तर वित है ।
कर्तव्य पालन की लगी रहती है जिसको नित्य धुन,
शुभ सत्य के कहने में जिसका संकुचित होता न मन ॥

जिसका सुभाषण नम्रता-माधुर्य से परिपूर्ण है,
तप की गदा से कर्मदल का नित्य करता चूर्ण है ।
रोक दे दृढ़ धीरता के साथ इच्छा का प्रवाह,
सच्चा विरागी है वही, संसार - सागर का मल्लाह ॥

निज नीति पालन के लिए जो कष्ट सहता है सदा,
जो धर्म - धैर्य अपने की परीक्षा करता रहता है सदा ।
जागृत सदा रहती है जिसकी बुद्धि बोध - विधायिनी,
रखता क्षमा की संग में नित शक्ति जयश्री - दायिनी ॥

ऐसा श्रमण भव - भीरुओं की भीति को करता हरन,
निज देशना - जल से सदा त्रय - पाप को करता शमन ।
सद्भक्ति से चरणोत्पलों में धोक देना चाहिए,
कर सतत सेवा 'अमर' अमरत्व लेना चाहिए ।

महेन्द्रगढ, चातुर्मास, १९८६

तपोधन मुनि

शीत - काल में पौष - माघ का शीत भयंकर सहते,
वस्त्र - हीन हो झंझानिल के दृढ भोंकों में रहते ।
अर्धरात्रि में ताल - तीर पर ध्यान - सिन्धु में बहते,
वीर तपोधन मुनिराजों के कर्म - दुर्ग द्रुत ढहते ।

ग्रीष्म - काल में गिरिशृंगों पर ऊँची भुजा उठाकर,
आत्म - ध्यान ध्याते हैं तन की ममता दूर हटा कर,
बार - बार उत्तप्त प्रभंजन जाता हिला - हिला कर ।
देव, देवपति करें वन्दना कर युग मिला - मिला कर,
वर्षा में दिन रात जोर से अम्र भ्रमा - भ्रम भरते,
उत्तुंगाद्रि प्रवाहित निर्भर शब्द विभीषण करते ।
विद्युत के गुरु गर्जना से भी तनिक न मन में डरते,
शून्यारण्ये ध्यान धरें, द्रुत भव - सागर से तरते ।

नारनील, अनन्त-चतुर्दशी, १९९३

आदर्श - प्रचारक

जिसका मनोबल दिव्य हो, नहीं भीति का लवलेश हो,
संसार को सत्पथ दिखाना, मात्र मुख्योद्देश हो ।
घन - घोर संकट में भी रहता, धीर जो गिरिशाज-सम,
सच्चा प्रचारक है वही, जो हो सुसौम्य शशांक-सम ॥

जो भक्ति करता है नहीं, अपने विनश्वर काय की,
बलिदान होता है समुद्र बलि-वेदी पर जो न्याय की ।
नरवृन्द में देखीफ नंगा सत्य जो कहता सदा,
सच्चा प्रचारक है वही, जो हो न कटुभाषी कदा ॥

धनिकों के माया - जाल में, फँसता नहीं जो वीर वर,
अन्त्यज जनों पर, निर्धनों पर, प्रेम जो करता प्रवर ।
जिस पर असर पड़ता कदाचित्, भी नहीं निंदा-स्तवन का,
सच्चा प्रचारक है वही, जो हो सदा सादे चलन का ॥

होता न डाँवाडोल जिसका चित्त संशयवान हो,
भगवान के वचनों पे जिसका पूर्ण दृढ़ श्रद्धान हो ।
पक्का हो अपनी आन का प्रण से नहीं हटता कभी,
सच्चा प्रचारक है वही, भगड़ा न जो करता कभी ॥

हो चारुतम चारित्र जिसका, रूढ़ियों का काल हो,
मेधावी हो, अकषायी हो, गुरु - ज्ञान का आगार हो ।
तन तोड़ श्रम कर के सदा कर्तव्य पालन जो करे,
सच्चा प्रचारक है वही, जो घोरतम तम को हरे ॥

हिसार, चातुर्मास, १९८७

स्तोत्र

संसार - सागर अपार नहीं किनारा,
तूफान मोह अति भीषण रूप धारा ।

हा प्राण कंठगत डूबन की तैयारी,
कीजे सहाय असहाय - सहायकारी ।

पापी अनेक भवसागर पार तारे,
दुःखार्त दीन बहते दुख से उबारे ।

लीजे जरा इधर भी अब शुद्धि मेरी,
क्यों हो रही स्वजन पै जगदीश देरी ।

तेरी अनन्त महिमा कथ कौन गावे ?
देवेन्द्र देवगुरु भी बस हार पावे ।

क्या थाह है जलधि के जलबिन्दुओं की,
माया अचिन्त्य कहिए गुणसिन्धुओं की ।

कर्ता तुझे सब कहें पर तू अकर्ता,
शंका बड़ी विकट है अब कौन हर्ता ।

किंवा विचित्र इसमें कुछ भी नहीं है,
पूर्णन्दु से कुमुद - बोधन ज्यों सही है ।

स्वर्गापवर्ग सुखद स्मर गर्वहारी,
देवेन्द्र वन्दित जगत् - त्रय मोदकारी ।

श्रद्धा व भक्तियुत वन्दन लीजिएगा,
सेवा स्वकीय कृपया बस दीजिएगा ।

३०, दिसम्बर, १९३४

कोकिल - अन्योक्ति

कोकिल रसाल की निराली छवि वाली ऊँची-
चोटी पै मजे से बैठ फूली ना समाती है ।
नाज नखरे के साथ स्वादु औ' सरस मंजु-
मंजरी का भोजन यथाभिलाष खाती है ॥
नन्ही - नन्ही शाखाओं के कोमल - हरित पत्र-
पुञ्ज पै फुदक चित्त हारि गान गाती है ।
हा - हा ! क्षण भर में रहेगा कुछ भी न, क्योंकि-
व्याध की बन्दूक से वह गोली चली आती है ॥

२६, सितम्बर, १९३६

सुभाषित

- ★ सज्जनों के शीष पर संकट रहेंगे कितने दिन,
चन्द्र को घेरे हुए बादल रहेंगे कितने दिन ।
- ★ सैकड़ों कोजे जतन पर पाप - कृति छुपती नहीं,
दाबिये कितनी ही खाँसी की ठसक रुकती नहीं ।
- ★ किस ऐठ में फिरता है पागल, यह हवा रहनी नहीं,
मध्यान्ह-सी सन्ध्या -समय रवि की प्रभा रहनी नहीं ।
- ★ गर्ज कर जड़ मेघ ! क्या तू बार - बार डरा रहा,
देखले, बच्चू चला पश्चिम पवन वह आ रहा ।
- ★ कृष्णतम से शुक्लतम बरसे पै बादल हो गए,
दान से दानी यशस्वी हो के अपयश धो गए ।
- ★ दुर्जनों से मित्रता कर खूब आनन्द लूटिए,
कौच फल ले हाथ में रो - रो के मस्तक कूटिए ।

- ☆ मित्र रवि के साथ उडुपति क्यों मलिन मुख हो रहे, दूसरों के द्वार पर जो भी गए सब रो रहे ।
- ☆ कालेज में जा हिन्द की प्राचीन हिस्ट्री सीख लो, निज पूर्वजों के वृत्त की खिल्ली उड़ाना सीख लो,
- ☆ मूर्ख कहते हैं किसे, यह जानते हैं आप क्या ? जो समझता है स्वयं को बुद्धिसागर और क्या ?
- ☆ दूसरों को दुःख दे खुद सौख्य पाता है नहीं, पैर में चुभते ही कांटा टूट जाता है वहीं ।

नारनौल, चातुर्मासि, १९६३

- ☆ अकेला भूल करके भी नहीं अभिमान आता है, भयंकर संकटों का संघ अपने साथ लाता है ।
- ☆ मूर्ख का अन्तःकरण रहता हमेशा जीभ पर, दक्ष के अन्तःकरण पर जीभ रहती है प्रखर ।
- ☆ क्लेश नौका - छिद्र ज्यों प्रारम्भ में हो मेट दो, अन्यथा सर्वस्व की कुछ ही क्षणों में भेट दो ।
- ☆ भंग मर्यादा हुए पर दुर्दशा होती बड़ी, बाग से बाहिर भुका तरु भी व्यथा पाता कड़ी ।
- ☆ उड़ रही थी व्यर्थ की गप-शप, कि घंटा बज गया, मौत का जालिम कदम एक और आगे बढ़ गया ।
- ☆ दुर्जनों की जीभ सच - मुच ही नदी की धार है, स्वच्छ सम ऊपर से, अन्दर भीम-भय - भंडार है ।
- ☆ छेड़िये तो उसको जिसका शस्त्र तीर कमान है, पर, उसे मत छेड़िए जिसका कि शस्त्र जबान है ।

यदा - कदा, १९६६

रज - कण

अहिंसा का विलक्षण शास्त्र है, बस हाथ में जिसके,
सकल संसार का शासन सदा है, हाथ में उसके ॥

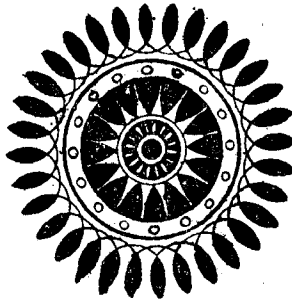
☆ ☆ ☆ ☆

सहर्धमिणी गर योग्य है, तो फिर गरीबी है कहाँ ?
खारिज अकल से वह अगण, तो फिर अमीरी है कहाँ ?

☆ ☆ ☆ ☆

व्यक्तित्व से जो शून्य है, वह वीर है बस नाम का,
हाँ, प्राण-वर्जित शेष-पंजर, केशरी किस काम का ।

अगस्त, १९३४




अन्तिम मंगल

भगवन् ! भवाब्धि भीषण,
डूबे बड़े विचक्षण,
बेड़ा जरा लंघा दे, बेड़ा लँघाने वाले !
अज्ञान - ध्वान्त फैला,
दिखता कहीं न गेला,
ज्योती जरा जगादे, ज्योती जगाने वाले !
आलस्य अड़ा खड़ा है,
साहस मरा पड़ा है,
मुर्दे जरा जिलादे, मुर्दे जिलाने वाले !
दुष्कर्म — शृंखला से,
जकड़ा पड़ा सदा से,
बन्दी जरा छुड़ा दे, बन्दी छुड़ाने वाले !
मैं पूत, तू पिता है,
संसार जानता है,
काबिल जरा बनादे, काबिल बनानेवाले !

नारनौल, १, जनवरी, १९३७





मूल्य : रु. तीन